युवकोंसे

क्रान्ति वस्तु मात्रका अनिवार्य स्वभाव है। प्रकृति स्वयं ही निश्चित समय-पर क्रान्तिको जन्म देती है। मनुष्य बुद्धिपूर्वक क्रान्ति करके ही जीवनको बनाये रखता और बढ़ाता है। बिजली अचानक गिरती है और वृक्षोंको क्षणमात्रमें निर्जीव करके किसी दूसरे कामके लायक बना देती है। परन्तु वसन्त ऋतुका कार्य इससे विपरीत है। वह एक तरफ जीर्ण शीर्ण पत्रोंको झड़ा देती है और दूसरी तरफ नये, कोमल और हरे पर्णोंको जन्म देती है। किसान सारे झाड़-झंखाड़ निकालकर जमीनको खेतीके लिए तैयार करता है, जिससे दूसरी बार उसे निंदाईमें समय नष्ट न करना पड़े। उतने समयमें वह पौधोंको अच्छी तरह उगानेका प्रयत्न करता है। ये सब फेरफार अपने अपने स्थानमें जितने योग्य हैं, दूसरी जगह उतने ही अयोग्य। इस वस्तुस्थितिको ध्यानमें रखते हुए अगर हम चलें तो क्रान्तिसे भय रखनेकी आवश्यकता नहीं, साथ ही अविचारी क्रांतिके कष्टसे भी बच सकते हैं। हमें भूतकालके अनुभव और वर्तमानके अवलोकनसे सुन्दर भविष्यका विचार शांतचित्तसे करना चाहिए। आवेशमें बह जाना या जड़तामें फँस जाना, दोनों ही हानिकारक हैं।

जैन-परम्पराके कुलमें जन्मा हुआ जैन है, यह सामान्य अर्थ है। साधारणतः अठारहसे चालीस वर्षतककी उम्रका पुरुष युवक कहा जाता है। पर हमें इस परिमित क्षेत्रमें ही 'जैन युवक' शब्दको नहीं रखना चाहिए। हमारा इतिहास और वर्तमान परिस्थिति इसमें नये जीवनभूत तत्त्वोंको समावेश करनेकी आवश्यकता प्रकट करती है। जिनके अभावमें जैन युवक केवल नामका युवक रहता है और जिनके होनेपर वह एक यथार्थ युवक बनता है, वे तीन तत्त्व ये हैं:—

१ निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति, २ निर्मोह कर्मयोग, ३ विवेकपूर्ण क्रियाशीलता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति—जैन-समाज निवृत्ति-प्रधान कहलाता है। हमें जो निवृत्ति उत्तराधिकारमें मिली है वह वास्तवमें भगवान महावीरकी है और वास्तविक है। परन्तु जबसे यह निवृत्ति उपास्य बन गई, उसके उपासक वर्गकी वृद्धि होती गई और कालक्रमसे उसका समाज बन गया, तबसे निवृत्तिने नया रूप धारण कर लिया। उत्कृष्ट आध्यात्मिक धर्म वास्तविक रूपसे विरले व्यक्तियोंमें दृष्टिगोचर होता और रहता है, वह समूहमें जीवित नहीं रह सकता, इसलिए जबसे उपासक-समूहने सामूहिक रूपसे आत्यंतिक निवृत्तिकी उपासना प्रारम्भ की, तबसे ही निवृत्तिकी वास्तविकतामें फर्क आने लगा। हमारे समाजमें निवृत्तिके उपासक साधु और श्रावक इन दो वर्गोंमें विभक्त हैं। जिसमें आत्म-रस ही हो और वासना-भूख जिसे नहीं सता रही हो ऐसे व्यक्तिको अपने देहका कोई मोह नहीं होता। उसे मकान, खानदान या आच्छादनका सुख-दुःख न तो प्रसन्न करता है और न विषाद ही उत्पन्न करता है। लेकिन ये चीजें समूहमें शक्य नहीं है। आत्मकल्याणके लिए संसारका त्याग करनेवाले साधु-वर्गका भी यदि इतिहास देखा जाय तो वे भी सुविधा और असुविधामें सम नहीं रह सके। दुष्काल पड़ते ही साधु सुभिक्षवाले प्रान्तमें विहार कर देते हैं। जहाँ सुभिक्ष होता है वहाँ भी ज्यादा सुविधाओंवाले स्थानोंमें ज्यादा रहते और विचरण करते हैं। ज्यादा सुविधावाले गाँवों और शहरोंमें भी जो कुटुंब साधुवर्गका ज्यादासे ज्यादा ख्याल रखते हैं उन्हींके घर उनका आना जाना ज्यादा होता है। यह सब अस्वाभाविक नहीं है। इसीलिए हमें सुविधा-रहित ग्रामों, शहरों और प्रान्तोंमें साधु प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होते और इसके परिणामस्वरूप जैन-परंपराका अस्तित्व भी जोखिममें दिख पड़ता है।

सुविधाओंके साथ जीवनके पालण-पोषणकी एकरसता होते हुए भी साधुवर्ग-मुख्य रूपसे भगवान और अपने जीवनके अंतरके विषयमें विचार न करके देहमें क्या रखा है? यह तो विनाशीक है, किसी समय नष्ट होगी ही। खेत, मकानादि सब जंजाल हैं, पैसा रुपया, स्त्री-बच्चे आदि सभी सांसारिक मायाजालके बंधन हैं, इत्यादि अनधिकार उपदेश प्रायः देते रहते हैं। श्रोता गृहस्थवर्ग भी अपने अधिकार और शक्तिका विचार न करके उक्त उपदेशके प्रवाहमें बह जाते हैं। परिणाम यह है कि हमारे समाजमें भगवानकी सच्ची निवृत्ति या अधिकार योग्य प्रवृत्ति, कुछ भी प्रतीत नहीं होती। वैयक्तिक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौटुम्बिक या सामाजिक कार्य निरुत्साह और नीरसतासे करते जाते हैं, जिससे बल प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते। संपत्ति, वैभव, विद्या या कीर्तिको बिना प्रयत्न पानेकी इच्छा रखते हैं और उसके लिए प्रयत्न करनेका कार्य दूसरोंके ऊपर छोड़ देते हैं। ऐसी स्थितिमें भगवानके वास्तविक निवृत्तिरूप जीवनप्रद जलके स्थानमें हमारे हिस्सेमें केवल उसका फेन और सील ही रहती है।

धर्म अधिकारसे ही शोभित होता है। जो अधिकाररहित धर्म साधु-वर्गको सुशोभित नहीं कर सकता वह श्रावक-वर्गको कैसे सुशोभित करेगा? निवृत्तिकी दृष्टिसे दाँत और शरीरकी उपेक्षा करनेमें ही हम धर्म मानते हैं लेकिन दाँतोंके सड़ने और शरीरके अस्वस्थ होनेपर इतने घबड़ा जाते हैं कि चाहे हम साधु हों चाहे गृहस्थ उसी समय डाक्टर और दवा ही हमारे मोहके विषय बन जाते हैं। व्यापार और कौटुम्बिक जिम्मेदारी निभानेमें भी बहुत बार हमारी मानी हुई निवृत्ति सामने आ जाती है लेकिन जिस समय इसके अनिष्ट परिणाम कुटुम्ब-कलह पैदा करते हैं उस समय हम उसे समभावसे सहनेमें असमर्थ होते हैं। सामाजिक सुव्यवस्था और राष्ट्रीय अभ्युदय अगर बिना प्रयत्नके मिल जायँ, तो हमें अच्छे लगते हैं। सिर्फ हमें अच्छा नहीं लगता है उसके लिए पुरुषार्थ करना। साधुवर्गकी निवृत्ति और गृहस्थ-वर्गकी प्रवृत्ति ये दोनों जब अनुचित ढंगसे एक दूसरेके साथ मिल जाती हैं, तब निवृत्ति सच्ची निवृत्ति नहीं रहती और प्रवृत्तिकी भी आत्मा विलुप्त हो जाती है। एक प्रसिद्ध आचार्यने एक अग्रगण्य और शिक्षित माने जानेवाले गृहस्थको पत्र लिखा। उसमें उन्होंने सूचित किया कि तुम्हारी परिषद् अगर पुनर्विवाहके चक्करमें पड़ेगी, तो धर्मको लांछन लगेगा। इन त्यागी कहे जानेवाले आचार्यकी सूचना ऊपरसे तो त्याग-गर्भित-सी प्रतीत होती है, लेकिन अगर विश्लेषण किया जाय तो इस अनधिकार संयमके उपदेशका मर्म प्रकाशित हो जाता है। पुनर्विवाह या उसके प्रचारसे जैनसमाज गर्तमें गिर जायगा, ऐसी दृढ मान्यता रखनेवाले और पुनर्विवाहके पात्रोंको नीची नजरसे देखनेवाले इन त्यागी जनोंके पास जब कोई वृद्ध-विवाह करनेवाला, या एक स्त्रीके रहते हुए भी दूसरी शादी करनेवाला, या अपने जीवनमें चौथी पाँचवीं शादी करनेवाला धनी गृहस्थ आ पहुँचता है, तब वह संपत्तिके कारण आगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान पाता है, और उस समय इन त्यागी गुरुओंकी संयमकी हिमायतमें कितना विवेक है, यह साफ मालूम पड़ जाता है ।

बहुतसे त्यागी गुरु और उनकी छायामें रहनेवाले गृहस्थ जिस समय कहते हैं कि हमें देश या राष्ट्रसे क्या मतलब, हमें तो अपना धर्म सँभालना चाहिए, राज्यके विरुद्ध हम लोग कैसे कुछ कह सकते या कर सकते हैं, उस समय निवृत्ति और प्रवृत्तिमें कितना असामंजस्य पैदा हो गया है, यह मालूम हो जाता है । इस तरहकी विचार-सरणीवाले देशको परतंत्रताकी बेड़ीसे मुक्ति मिलना असंभव है । वे भूल जाते हैं कि अगर देश आर्थिक, औद्योगिक और राजनीतिक दृष्टिसे परतंत्र है, तो हम भी उसी बेड़ीमें बँधे हुए हैं। चिरकालका अभ्यास हो जानेसे या स्थूल दृष्टिके कारण अगर गुलामी गुलामी प्रतीत नहीं होती, तो इससे उसका प्रभाव कम नहीं हो जाता । इन अदूरदर्शी व्यक्तियोंको इसका भी विचार करना चाहिए कि विश्वव्यापी स्वतंत्रताकी भावनावालोंका वर्ग छोटा होता हुआ भी अपने दृढ निश्चयसे उसी दिशाकी ओर बढ़ रहा है । धर्म, पंथ और जातिके भेद-भावसे रहित सहस्रों ही नहीं बल्कि लाखों युवक युवतियाँ उनका साथ दे रही हैं ।

जल्दी या देरसे यह तंत्र सफल होगा ही । इस सफलतामें भाग लेनेसे अगर जैन-समाज वंचित न रहना चाहता हो और उसे स्वतंत्रताके सुन्दर फलोंका आस्वाद अच्छा लगता हो, तो उसे परतंत्रताकी बेड़ियाँ काटनेमें इच्छा और बुद्धिपूर्वक धर्म समझकर अपना हिस्सा अदा करना चाहिए। मेरी यह दृढ मान्यता है कि जैन युवकको अपने जीवन-तंत्रको स्वयं ही निवृत्तिलक्षी प्रवृत्तिवाला बनाना चाहिए । इसमें प्राचीन उत्तराधिकारकी रक्षा और नवीन परिस्थितिका सामञ्जस्य करनेवाले तत्त्वोंका सम्मिश्रण है । निवृत्तिको शुद्ध निवृत्ति रखनेका एक ही नियम है, और वह यह कि निवृत्तिके साथ साथ जीवनको सुदृढ बनाये रखनेके लिए आवश्यक और अनिवार्य प्रवृत्तिका भार भी अपने ऊपर लिया जाय । दूसरोंकी प्रवृत्तिद्वारा प्राप्त फलके आस्वादनका त्याग करना चाहिए । इसी प्रकार प्रवृत्तिको स्वीकार कर अगर जीवन शुद्ध रखना है तो प्रवृत्तिसे प्राप्त फलका आत्मभोक्ता न होकर समूहगामी होना चाहिए । अगर यह होने लगे तो प्राप्त साधनोंका और सुविधाओंका वैयक्तिक भोगमें परिणमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न होकर समूहगामी सुन्दर उपयोग होगा और प्रवृत्ति करनेवाला इतने अंशमें वैयक्तिक तृष्णासे मुक्त होकर निवृत्तिका पालन कर सकेगा।

निर्मोह कर्मयोग

दूसरा लक्षण वस्तुतः प्रथम लक्षणका ही रूप है। पहले ऐहिक और परलौकिक इच्छाओंकी तृप्तिके लिए यज्ञयागादि क्रियाकाण्ड बहुत होता था। धार्मिक समझा जानेवाला यह क्रियाकाण्ड वस्तुतः तृष्णाजनित होनेके कारण धर्म नहीं है, ऐसी दूसरे पक्षकी सत्य और प्रबल मान्यता थी। गीता-धर्म-प्रवर्तक जैसे दीर्घदर्शी विचारकोंको कर्म-प्रवृत्तिरहित जीवन-तंत्र असंभव जान पड़ा, फिर चाहे वह व्यक्तिका हो या समूहका। उन्हें यह भी प्रतीत हुआ कि कर्म-प्रवृत्तिकी प्रेरक तृष्णा ही सारी विडम्बनाओंका मूल है। इन दोनों दोषोंसे मुक्त होनेके लिए उन्होंने अनासक्त कर्मयोगका स्पष्ट रूपसे उपदेश दिया। यद्यपि जैन-परम्पराका लक्ष्य निर्मोहत्व है, तो भी सम्पूर्ण समाजके रूपमें हम प्रवृत्तिके बिना नहीं रह सकते और न कभी रहे हैं। ऐसी स्थितिमें हमारे विचारक-वर्गको निर्मोह या अनासक्त भावसे कर्मयोगका मार्ग ही स्वीकार करना चाहिए। अन्य परम्पराओंको अगर हमने कुछ दिया है, तो उनसे लेनेमें भी कोई हीनता नहीं है। और अनासक्त कर्मयोगके विचारोंका अभाव हमारे शास्त्रोंमें हो, ऐसी बात भी नहीं है। इसलिए मेरा मान्यता है कि प्रत्येक जैन इस मार्गके स्वरूपको समझे और उसे जीवनमें उतारनेके लिए दृढ निश्चयी बने।

विवेकी क्रिया-शीलता

अब हम तीसरे लक्षणका विचार करते हैं। हमारे इस छोटेसे समाजमें आपसमें लड़नेवाले और बिना विचारे घोष-प्रतिघोष करनेवाले दो एकान्तिक पक्ष हैं। एक पक्ष कहता है कि साधु-संस्था अब कामकी नहीं है, इसे हटा देना चाहिए। शास्त्रों और आगमोंके उस समयके बंधन इस समय व्यर्थ हैं-तीर्थ और मंदिरोंका भार भी अनावश्यक है। दूसरा पक्ष इससे विपरीत कहता है। उसकी मान्यता है कि जैन-परम्पराका सर्वस्व साधु-संस्था है। उसमें अगर किसी प्रकारकी कमी या दोष हो तो उसे देखने और करनेकी वह मनाई करता है। शास्त्र नामकी सभी पुस्तकोंका एक एक अक्षर ग्राह्य है और तीर्थों और मंदिरोंकी वर्तमान स्थितिमें किसी प्रकारके सुधारकी आवश्यकता नहीं है। मेरी समझमें अगर ये दोनों एकान्तिक विरोधी पक्ष विवेक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक कुछ नीचे उतर आवें तो उन्हें सत्य समझमें आ सकता है और व्यर्थमें बर्बाद की जानेवाली शक्ति उपयोगी कार्योंमें लग सकती है। इसलिए मैं यहाँपर जैन युवकका अर्थ क्रियाशील करके उसके अनिवार्य लक्षणके रूपमें विवेकी क्रिया-शीलताका समावेश करता हूँ।

साधु-संस्थाको अनुपयोगी या अजागलस्तनवत् माननेवालोंसे मैं कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। भूतकालीन साधु संस्थाके ऐतिहासिक कार्योंको अलग रखकर अगर हम पिछली कुछ शताब्दियोंके कार्योंपर ही विचार करें, तो इस संस्थाके प्रति आदरभाव प्रकट किये बिना नहीं रहा जा सकता। दिगम्बर-परंपराने अन्तिम शताब्दियोंमें अपनी इस संस्थाको क्षीण बनाया, तो क्या इस परम्पराने श्वेताम्बर परम्पराकी अपेक्षा विद्या, साहित्य, कला या नीति-प्रचारमें ज्यादा देन दी है? इस समय दिगम्बर-परम्परा मुनि-संस्थाके लिए जो प्रयत्न कर रही है, उसका क्या कारण है? जिह्वा और लेखनीमें असंयम रखनेवाले अपने तरुण बंधुओंसे मैं पूछता हूँ कि आप विद्या-प्रचार तो चाहते हैं न? अगर हां, तो इस प्रचारमें सबसे पहले और ज्यादा सहयोग देनेवाले साधु नहीं तो और कौन हैं? एक उत्साही श्वेताम्बर साधुको काशी जैसे दूर और बहुत कालसे त्यक्त स्थानमें गृहस्थ कुमारोंको शिक्षा देनेकी महत्त्वपूर्ण अंतःस्फुरणा अगर न हुई होती, तो क्या आज जैन समाजमें ऐसी विद्योपासना शुरू हो सकती थी? एक सतत कर्मशील जैन मुनिने आगम और आगमेतर साहित्यको विपुल परिमाणमें प्रकट कर देश और विदेशमें सुलभ कर दिया है जिससे जैन और जैनेतर विद्वानोंका ध्यान जैन साहित्यकी ओर आकर्षित हुआ है। क्या इतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण कार्य कोई जैन गृहस्थ इतने अल्प समयमें कर सकता था? एक वृद्ध मुनि और उसका शिष्यवर्ग जैन समाजके विभूति-रूप शास्त्र-भण्डारोंको व्यवस्थित करने और उसे नष्ट होनेसे बचानेका प्रयत्न कर रहा है और साथ ही साथ उनमेंकी सैकड़ों पुस्तकोंका श्रमपूर्वक प्रकाशन-कार्य भी वर्षोंसे कर रहा है जो स्वदेश विदेशके विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करता है। ऐसा कार्य आप और मेरे जैसा कोई गृहस्थ नहीं कर सकता।

शास्त्रों और आगमोंको निकम्मा समझनेवाले भाइयोंसे मैं पूछता हूँ कि क्या आपने कभी उन शास्त्रोंका अध्ययन भी किया है? आप उनकी कदर नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते, सो अपने अज्ञानके कारण या शास्त्रोंकी निरर्थकताके कारण? मैं युवकोंसे पूछता हूँ कि आप अपने समाजके लम्बे कालका कौन-सा कार्य संसारके सामने रख सकते हैं? देश विदेशके जैनेतर विद्वान् भी जैन साहित्यका अद्भुत मूल्यांकन करते हैं और उसके अभावमें भारतीय संस्कृति या इतिहासका पृष्ठ अधूरा मानते हैं। विदेशोंमें लाखों रुपये खर्च करके जैन-साहित्य संग्रह करनेका प्रयत्न हो रहा है। ऐसी स्थितिमें जैन शास्त्रों या जैन साहित्यको जला देनेकी बात कहना पागलपन नहीं तो और क्या है?

तीर्थों और मन्दिरोंके ऐकान्तिक विरोधियोंसे मेरा प्रश्न है कि इस तीर्थ-संस्थाके इतिहासके पीछे स्थापत्य, शिल्प और प्राकृतिक सौन्दर्यका कितना भव्य इतिहास छिपा हुआ है, क्या आपने कभी इस विषयमें सोचा है? स्थानकवासी समाजको अगर उसके पूर्व पुरुषोंके स्थान या स्मृतिके विषयमें पूछा जाय, तो वे इस विषयमें क्या कह सकते हैं? क्या ऐसे अनेक तीर्थ नहीं हैं जहाँके मंदिरोंकी भव्यता और कलाको देखकर आपका मन यह कहनेको विवश हो जाय कि लक्ष्मीका यह उपयोग वास्तवमें सफल कहा जा सकता है?

इसी भाँति दूसरे ऐकान्तिक पक्षसे भी मैं आदरपूर्वक पूछना चाहता हूँ कि अगर हमारे साधु वास्तवमें सच्चे साधु हैं, तो आज उनमें गृहस्थवर्गसे भी ज्यादा मारामारी, पक्षापक्षी, तू तू मैं मैं, और एक ही धनिकको अपना अपना अनुयायी बनानेकी अव्यक्त होड़ क्यों चल रही है? अक्षरशः शास्त्रोंके माननेवालोंसे मेरा यह निवेदन है कि यदि शास्त्रोंके प्रति आपकी अनन्य भक्ति है, तो आपने उन शास्त्रोंको पढ़ने और विचारनेमें तथा देशकालानुसार उपयोगिता-अनुपयोगिताका पृथक्करण करनेमें कभी अपनी बुद्धि लगाई है या दूसरोंकी ही बुद्धिका उपयोग किया है? मंदिर-संस्थाके पीछे सर्वस्व होम देनेवाले भाइयोंसे मेरा यह निवेदन है कि कितने मंदिरोंकी व्यवस्था करनेकी शक्ति आपमें है? उनके ऊपर होनेवाले आक्रमणोंका प्रतिकार करनेकी कितनी शक्ति आपके पास है? एकतरफी धुनमें कहीं आप इसके आवश्यक कर्त्तव्य तो नहीं भूल जाते? इस प्रकार दोनों पक्षोंसे पूछताछकर मैं उनका ध्यान विवेककी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि अगर दोनों वर्ग मर्यादामें रहकर विवेकपूर्वक विचार करें, तो अपने अपने वर्गमें रहकर काम करते हुए भी बहुत-सी कठिनाइयोंसे बच जायेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब मैं अपने कर्त्तव्य सम्बन्धी प्रश्नोंकी ओर आता हूँ। उद्योग, शिक्षा, राजसत्ता आदिके राष्ट्रव्यापी निर्णय, जो देशकी महासभा समय समयपर किया करती है, वही निर्णय हमारे भी हैं, इसलिए उनका यहाँ अलगसे विचार करना अनावश्यक है। सामाजिक प्रश्नोंमें जाति-पाँतिके बंधन, बाल-वृद्ध-विवाह, विधवाओंके प्रति जिम्मेदारी, अनुपयोगी खर्च इत्यादि अनेक हैं। इन सब प्रश्नोंके विषयमें जैन समाजकी भिन्न भिन्न परिषदें वर्षोंसे प्रस्ताव करती आ रही हैं और वर्तमान परिस्थिति इस विषयमें स्वयं ही कुछ मार्गोंको खोल रही है। हमारी युवक-परिषदने इस विषयमें कुछ ज्यादा वृद्धि नहीं की है।

हमारी परिषदको अपनी मर्यादाएँ समझकर ही काम करना चाहिए। यह मुख्य रूपसे विचारनेका ही कार्य करती है। विचारोंको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए जिस स्थिर बुद्धि-बल और समय-बलकी आवश्यकता है उसे पूरा करनेवाला अगर कोई व्यक्ति न हो तो अर्थसंग्रहका काम कठिन हो जाता है। ऐसी स्थितिमें चाहे जितने सुकर्त्तव्योंकी रूपरेखा तैयार की जाय, व्यावहारिक दृष्टिसे उसका ज्यादा अर्थ नहीं रहता। हमारी परिषदको एक भी साधुका सहयोग नहीं है, जो अपनी विचारसरणीसे या दूसरी तरहसे सहायता करके परिषदके कार्यको सरल बनाए। परिषदको अपने गृहस्थ सभ्योंके बलपर ही जिन्दा रहना है। एक तरफ उसमें स्वतंत्रताका पूरा अवकाश होनेसे विकासका स्थान है, दूसरी तरफ उसके प्रायः सभी सदस्य व्यापारी वृत्तिके हैं, इस कारण वे कार्योंको व्यवस्थित और सतत संचालन करनेमें उचित समय नहीं दे सकते। इसीलिए मैं बहुत ही परिमित कर्त्तव्योंका निर्देश करता हूँ।

देशके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें अनेक शहर कस्बे और ग्राम ऐसे हैं जहाँपर जैन युवक होते हुए भी उनका संघ नहीं है। उनके लिए अपेक्षित धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पठन-पाठनका सुभीता नहीं है। एक प्रकारसे वे अँधेरेमें है। उनमें उत्साह और लगन होते हुए भी विचारने, बोलने, मिलने जुलनेका स्थान नहीं है। शहरों और कस्बोंमें पुस्तकालयकी सुविधा होते हुए भी जब अनेक उत्साही जैन युवकोंका पठन पठन नाम मात्रका भी नहीं है तब उनके विचार-सामर्थ्यके विषयमें तो कहना ही क्या? ऐसी स्थितिमें हमारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिषद दो तीन सभ्योंकी समिति चुनकर उसे आवश्यक पाठ्य पुस्तकोंकी सूची बनानेका कार्य सौंपे और उस सूचीको प्रकाशित करे, जिससे प्रत्येक जैन युवक सरलतासे धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्य प्रश्नोंके विषयमें दूसरोंके विचार जान सकें और खुद भी विचार कर सकें। ऐसी सूची अनेक युवक-संघोंके संगठनकी प्रथम भूमिका बनेगी। केन्द्रस्थानके साथ अनेक युवकोंका पत्र-व्यवहार होनेपर कई युवक-संघोंका संगठन होगा। दस पाँच शहरोंके थोड़ेसे गिने चुने विचारशील युवक होनेसे कोई सार्वत्रिक युवक संघकी विचार-प्रवृत्ति नहीं चल सकती। मुखपत्रमें प्रकट हुए विचारोंको झेलनेकी सामान्य भूमिका सर्वत्र इसी प्रकार निर्मित हो सकती है।

शिक्षाप्रधान शहरोंके संघोंको एक शिक्षासंबंधी प्रवृत्ति भी हाथमें लेनी चाहिए। शहरके संघोंको अपने कार्यालयमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे स्थानीय या आसपासके गाँवोंके विद्यार्थी अपनी कठिनाइयाँ वहाँ आकर कह सकें। युवक-संघ भी अपनी शक्तिके अनुसार कुछ व्यवस्था करे या मार्ग दर्शन करे। इससे मार्ग और आलम्बनरहित भटकनेवाले या चिंता करनेवाले अपने भाइयोंको कुछ राहत मिल सकेगी।

इसके अतिरिक्त एक कर्त्तव्य उद्योगके बारेमें है। शिक्षाप्राप्त या बीचमें ही अध्ययन छोड़ देनेवाले अनेक भाई नौकरी या धंधेकी खोजमें इधर उधर भटकते फिरते हैं। उन्हें प्रारम्भमें दिशासूचनकी भी सहायता नहीं मिलती। यदि थोड़े दिन रहने, खाने आदिकी सस्ती सुविधा न भी दी जा दे सकें, तो भी परिस्थिति जानकर अगर उन्हें योग्य सलाह देनेकी व्यवस्था उस स्थानका संघ कर दे, तो इससे युवक-मण्डलोंका संगठन अच्छी तरह हो सकता है।

हमारे आबू, पालीताणा आदि कुछ ऐसे भव्य तीर्थ हैं जहाँपर हजारों व्यक्ति यात्रा या आरामके लिए जाते रहते हैं। प्रत्येक तीर्थ हमारा ध्यान स्वच्छताकी ओर आकर्षित करता है। तीर्थ जितने भव्य और सुन्दर हैं वहाँपर मनुष्यकृत अस्वच्छता असुंदरता भी उतनी ही है। इसलिए तीर्थ-स्थानके या उसके पासके युवक-संघ आदर्श स्वच्छताका कार्य अपने हाथमें ले लें तो वे उसके द्वारा जनानुराग उत्पन्न कर सकते हैं। आबू एक ऐसा स्थान है जो गुजरात और राजपूतानाके मध्य होनेके अतिरिक्त आबहवाके लिए भी बहुत अच्छा है। वहाँके प्रसिद्ध जैन मंदिरोंको देखनेके लिए आनेवालोंका मन आबूकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहाड़ियोंमें रहनेके लिए ललचा उठता है और आबहवाके लिए आनेवाले भी इन मंदिरोंको देखे बिना नहीं रह सकते। जैसे सुन्दर ये मन्दिर हैं वैसा ही सुन्दर पर्वत है। तो भी उनके पास न तो स्वच्छता है, न उपवन है और न जलाशय। स्वभावसे उदासीन जैन जनताको यह कमी भले ही न खटकती हो, तो भी जब वे दूसरे केम्पों और जलाशयोंकी ओर जाते हैं तो तुलनामें उन्हें भी अपने मंदिरोंके आसपास यह कमी खटकती है। सिरोही, पालनपुर या अहमदाबादके युवक-संघ इस विषयमें बहुत कुछ कर सकते हैं। उत्तम वाचनालय और पुस्तकालयकी सुविधा तो प्रत्येक तीर्थमें होनी चाहिए। आबू आदि स्थानोंमें यह सुविधा बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। पालीताणामें कई शिक्षणसँस्थाएँ हैं। उनके पीछे खर्च भी कम नहीं होता। उनमें काम तो होता है लेकिन दूसरी प्रसिद्ध संस्थाओंकी भाँति वे विद्वानोंको आकर्षित नहीं कर सकतीं। इसके लिए भावनगर जैसे नजदीकके शहरके विशिष्ट शिक्षित युवकोंको सहयोग देना चाहिए।

जो ऊँच-नीचके भेद न मानता हो, कथित अस्पृश्यों और दलितोंके साथ मनुष्यताका व्यवहार करता हो, जो अनिवार्य वैधव्यके बदले ऐच्छिक वैधव्यका सक्रिय समर्थक हो और जो धार्मिक संस्थाओंमें समयोचित सुधारका हिमायती हो, उसके द्वारा यदि ऐसी अल्प और हलकी कार्य-सूचना दी जाय, तो जड़ रूढ़िकी भूमिमें लम्बे समयसे खड़े खड़े उकताये हुए और विचार-क्रान्तिके आकाशमें उड़नेवाले युवकोंको नवीनता मालूम होगी, यह स्वाभाविक है। परन्तु मैंने यह मार्ग जान-बूझकर अपनाया है। मैंने सोचा कि एक हलकीसे हलकी कसौटी युवकोंके सामने रखूँ और परीक्षा करके देखूँ कि वे उसमें कितने अंशमें सफल हो सकते हैं। हमें उत्तराधिकारमें एकांगी दृष्टि प्राप्त होती है जो समुचित विचार और आवश्यक प्रवृत्तिके बीच मेल करनेमें विघ्नरूप सिद्ध होती है। इसलिए उसकी जगह किस दृष्टिका हमें उपयोग करना चाहिए, इसीकी मैंने मुख्य रूपसे चर्चा की है।

युवकपरिषत्, अहमदाबाद,
स्वागताध्यक्षके पदसे

अनुवादक—
मोहनलाल खारीवाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org